AMOGHVARTA

ISSN : 2583-3189

भारतीय राष्ट्रवाद एवं संस्कृतिः महात्मा गाँधी के परिप्रेक्ष में

ORIGINAL ARTICLE

Author
योगेश चन्द्र दास
शोधार्थी
शिक्षा विभाग, मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान संकाय
साई नाथ विश्वविद्यालय
राँची, झारखण्ड, भारत

शोध सार

भारतीय परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रवाद एकांकी स्तर पर राजनैतिक कार्यक्रम एवं आधारभूत सत्व नहीं रहा है। राष्ट्रवाद को नैतिक दायित्व संकल्प तथा धर्म का प्रत्यय स्वीकार कर भारतीय विचारक–कर्मण्यवादियों ने राजनीतिक इतिहास की व्याख्या को नव स्वर प्रदान किये। मानव अस्तित्व तथा दायित्व को दैवीय नियति के समकक्ष स्थापित करने के आदर्श का व्यवहारीकरण सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की जननी है। ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में उल्लेखनीय है कि भारतीय चिन्तन–प्रवाह–धारा में ''राजनीतिक'' का विलग्न अस्तित्व किसी ग्रन्थ, प्रत्यय, दर्शन अथवा निर्वचन में नहीं देखा गया, क्योंकि मूलवृत्त सूत्रबद्ध स्तर पर मानवीय नैतिकता एवं आध्यात्मिक प्राथमिकताओं से अनुप्राणित रहा। गाँधी ने इस रेखांकित वास्तविकता को सशक्त रूप दिया। राज्य, राजनीति एवं सम्बद्ध क्रिया–प्रतिक्रिया को भारतीय विश्लेषकों ने धर्म नीतिवृत्ति में संवर्धन हेतु प्रस्तुत किया। आधुनिक भारतीय चिन्तन के सन्दर्भ में यदि ''राजनीतिक'' का स्थान द्वितीयक रहा तो उसका औचित्य सांस्कृतिक कारकों की प्राथमिकता में स्पष्टतः आधारित देखा जा सकता है। भारतीय राष्ट्रवादी इतिहास में आध्यात्मिकता पूरित प्राथमिकताओं को अगर सर्वोपरिता प्रदान की गई, तो इस संकल्प को उग्रवाद का प्रारूप मानना अनुचित होगा। वास्तव में राष्ट्रवाद के सांस्कृतिक मूल्यों की पुर्नस्थापना न केवल स्वतन्त्रता एवं स्वायत्तता की द्योतक है, अपितु वह किसी समाज विशेष तक परिसीमित न होकर वैश्विक सदाशय, बन्धुत्व एवं अनन्त पारिवारिकता की पोशक है। भारतीय सन्दर्भ में विवेकानन्द, अरविन्द घोष, रविन्द्रनाथ ठाकुर, नेहरु एवं गाँधी का योगदान राष्ट्रवाद तथा अर्न्तराष्ट्रवाद के समीकृत सौजन्य का अनुपम उदाहरण है। मानवीय संकल्प के अन्तर्गत भारतीय सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के बीजारोपण को पश्चिमी राष्ट्रवाद से भिन्न स्तर पर देखने की स्थिति में ही अनेक विरोधाभासों का निराकरण सम्भव है। यदि भारतीय सन्दर्भ में लौकिक एवं अलौकिक, भौतिक एवं आध्यात्मिक द्वन्द्व को सांस्कृतिक समायोजन द्वारा परिष्कृत किया गया, तो इस वास्तविकता को स्वीकारने में ही व्याख्यात्मक एवं व्यावहारिक स्थिति की ज्ञातव्यता सम्भव है।

मुख्य शब्द

राष्ट्रवाद, संस्कृति, राजनीतिक राष्ट्र, सांस्कृतिक राष्ट्र, राज्य राष्ट्र.

प्रस्तावना

राष्ट्रवाद की सांस्कृतिक परिकल्पना केवल परिकल्पना अथवा अमूर्त अवधारणा नहीं है, क्योंकि इसकी व्यावहारिकता व्यवस्थापक–स्थापना, संवर्धन एवं गत्यात्मकता में आसीन है। यदि पश्चिम में राष्ट्रवाद में निहित

स्वतन्त्रता स्वराज एवं स्वशासन के स्वायत्ततायुक्त प्रयोजन राजतंत्रात्मक तथा पंथाधारित निरंकुशता के स्वाभिमानी विकल्पों से संयुक्त देखे गये, तो इसमें आश्चर्य नहीं, क्योंकि यूरोप की परिस्थिति एवं समस्या मूलतः भिन्न थी। दूसरी ओर विशेष रूप से भारतीय परिप्रेक्ष्य में नीति एवं नैतिकता प्रधान विकास बद्धता तथा आध्यात्म की व्युत्पत्ति, विकास एवं पर्यावरण–विस्मृत अथवा दिग्भ्रमित सभ्यता की विरासत की शुद्धि तथा पुर्नस्थापना को अपरिवर्तनीय माना गया। इसी योगदान से भारतीय अंग्रेजों की विकल्प–प्रस्तुति को समझा जा सकता है। भारतीय राष्ट्रवाद की आत्मा सदैव सांस्कृतिक ही रही, यद्यपि व्यवस्थात्मक संरचनात्मक तथा प्रक्रियात्मक दायित्व–पूर्ति हेतु प्रयासों में भी किसी प्रकार की क्षीणता को स्वीकार नहीं किया गया। इच्छा–शक्ति का क्रियान्वयन विलक्षण स्वीकृति में देखा गया, जो अन्तर–राज्य प्रभावों की परिपूरकता एवं समायोजित स्थिति को सार्थक बनाती है। संस्कृति प्रधान राष्ट्रवाद इसी कारण ''सम्पूर्ण व्यक्ति'' एवं ''सम्पूर्ण समाज'' की अवधारणा का पर्याय है।

आधुनिक भारतीय चिन्तन की विविध धाराओं में भिन्नता के बावजूद यदि किसी मूलतत्व को उच्चतर स्तर पर देखा गया तो वह है राष्ट्रवाद के प्रति राजनीतिक प्राथमिकता के स्थान पर समग्र सामाजिक दृष्टि की परिणति। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के ऐतिहासिक सन्दर्भ में स्मरणीय है कि भारत में राजनीतिक राष्ट्र की अवधारणा किसी भी युग में प्राथमिक नहीं मानी गई। प्रामाणिक स्तर पर, यदि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के मूल अवतरण को स्पष्ट करना है तो आवश्यक है कि ''राज्य–राष्ट्र'' एवं ''सांस्कृतिक राष्ट्र'' के मूल अन्तर को इस आधार पर स्पष्ट करना होगा कि अनेक ''राजनीतिक राष्ट्र'' सामाजिक व्यापकता से अनुप्राणित रहे हैं, जबकि बहुसंख्या में ऐसे ''राजनीतिकं राष्ट्र'' भी हैं, जिनकी निर्णायकता राज्य–सम्बद्ध कारकों से युक्त हैं। सामाजिक सन्दर्भ का निर्णायक आशय उन सांस्कृतिक मानकों से है जो परम्परा, संस्थाओं, इतिहास, कानून, पंथ–परम्पराओं, भाषाओं, प्रजाति जैसे कारकों से अनुप्राणित एवं निर्मित होते हैं।

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का निर्माण एवं व्यवस्थित स्वरूपण इन्हीं कारकों से होता है। सम्भव है कि उपर्युक्त कारकों में से कतिपय के प्रभाव तुलनात्मक स्तर पर न्यून अथवा अधिक हों, किन्तु ''राजनीतिक राष्ट्र'' की वास्तविकता का रुपान्तरण ''सांस्कृतिक राष्ट्र'' व्यवस्था एवं मान्यता में उसी स्थिति में होता है जब ''राष्ट्र''–विषयक प्रभावी कारक प्राथमिक नहीं बनते।

20वीं शताब्दी में विशेष रूप से जब ''सांस्कृतिक राष्ट्रवाद'' को राजनीतिक राष्ट्रवाद के अर्न्तगत परिसीमित प्रयोजन हेतु प्रस्तुत किया गया तो राष्ट्रवाद स्वतः विभीषिका में परिणित हुआ एवं दो महायुद्धों के बावजूद इस वास्तविकता को नहीं नकारा जा सकता कि राष्ट्रवाद के आवरण में सांस्कृतिक कारकों का अवमूल्यन केवल हिंसा, प्रसारवाद, एवं प्रतिशोधी गतिविधियों को ही जन्म दे सकता था।

राष्ट्रवाद के इस विकृतीकरण के प्रति भारतीय अंग्रेज सावधान रहे। इसी सन्दर्भ में गाँधी की भूमिका को आशंकित प्रभाव–तत्वों से मुक्त स्थिति में देखा जा सकता है। इसी वास्तविकता में भारतीय राष्ट्रवाद की सांस्कृतिक अस्मिता के नव प्रकरण स्थापित हैं। वैश्विक समाज की वास्तविकता एवं सम्भावनाओं को प्राथमिक मानकर गाँधी ने राष्ट्रवाद को सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में मूलतः अस्मिता–अवबोधन एवं प्रयोजनयुक्त दायित्व माना। गाँधी को शास्त्रीय रूप से राष्ट्रवाद का समर्थक मान लेने मात्र से उनके दर्शन एवं कर्मण्यता की समग्रता को वस्तुनिष्ठ स्तर पर अभिव्यक्त करना सम्भव नहीं है। एक सन्दर्भ विशेष में, गाँधी राष्ट्रवादी आग्रहों के निकट एवं उनके प्रति समर्पित अवश्य रहे, किन्तु आधारभूत वास्तविकता यह है कि गाँधी ने राष्ट्रवाद को परिसीमित दायित्व, संकल्प एवं प्रयोजन नहीं माना। परतंत्र राष्ट्र के सामयिक सन्दर्भ में गाँधी की प्राथमिकता राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रभक्ति एवं व्यवस्था–रूपान्तरण द्वारा स्वशासन एवं सुराज से अवश्य संयुक्त रहीं, किन्तु अन्ततोगत्वा ''राजनीति''एवं ''राजनीतिक जीवन'' को पर्याप्त एवं संकुचित माना एवं सशक्त विकल्प के स्तर पर ''लोकजीवन'' ''लोकनीति'' तथा ''लोकशक्ति'' की अपवाद रहित अनिवार्यता का समर्थन किया। गाँधी की मूल कृति ''हिन्द स्वराज'' इस सन्दर्भ में अधिकृत कथन है। गाँधी ने राष्ट्रवाद को स्वतन्त्रता प्राप्ति एवं अधिकारों की अबाधित उपलब्धि के प्रयोजन हेतु आवश्यक प्रथम चरण माना। गाँधी का आशय था कि साम्राज्यवादी औपनिवेशी आरोपण से मुक्त होकर समाज का रुपान्तरण जनशक्ति में हो एवं प्रत्येक

व्यक्ति को नागरिक स्वायत्तता, स्वअभिव्यक्ति, समय कल्याण एवं प्राकृतिक अधिकारों की उपलब्धि निश्चित रूप से ग्राह्य हो, जिसके आधार पर सम्पूर्ण समाज वैश्विक समाज की सेवाएं, परिपूरक भूमिका निर्वाह करने में, सतत् क्षमताओं को साकार कर सकें।

इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में गाँधी ने न केवल राष्ट्रवाद, राजनीति एवं राजनीतिक जीवन को ही नवस्वरूप दिया बल्कि राष्ट्रवाद एवं अर्न्तराष्ट्रवाद के कृत्रिम भेद का निराकरण कर मानवीय दृष्टि प्रस्तुत की।

ज्ञातव्य है कि गाँधी यद्यपि दक्षिण अफ्रीका एवं तत्पश्चात् भारतीय राजनीति में पूर्णतः संलग्न रहे, किन्तु इसके बावजूद उनकी बुनियादी मान्यता यही रही कि राजनीति का कायाकल्प करना अनिवार्य है। गाँधी ने इसी आधार पर स्पष्ट किया कि स्थापित राजनीति में शक्ति–सम्बद्ध हिंसा एवं गोपनीयता, आरोपित एवं कल्याणकारी दावे, सत्ता अधिग्रहण प्रेरित स्वार्थ परायणता तथा अन्याय एवम् असमानता के नित्य नये साधनों की बढ़ोतरी, नग्न रूप से राजनीति की वास्तविकता के द्योतक प्रमाण है। गाँधी ने स्पष्ट किया कि राजनीति के मानवीकरण एवं आध्यात्मीकरण द्वारा ही वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय लक्ष्य की सिद्धि सम्भव है, क्योंकि राज्य व्युत्पत्ति एवं वास्तविकता के स्तर पर हिंसा की सममता एवं निरन्तरता का द्योतक है। इसी आधार पर गाँधी ने प्रतीकात्मक स्तर पर ''रामराज्य'' को समाधार माना। रामराज्य किसी प्रकार से भी जाति अथवा मान्यता विशेष से बढ़कर सांस्कृतिक उत्प्रेरणा एवं स्त्रोत ''वास्तविकता'' था। गाँधी की दृष्टि में रामराज्य का आदर्श नितांत राजनीतिक एवं व्यवस्थात्मक स्वशासन की अपेक्षा, उस लक्ष्य एवं दृष्टि को परिलक्षित करना है, जो सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक उन्नयन की अनिवार्यता की द्योतक है। इसी कारण गाँधी चिन्तन एवं प्रयोजन के वृहत वृत्त में राजनीति एवं राज्य की निर्णायकता आंशिक एवं परिसीमित है। अवश्य ही गाँधी ने ब्रिटिश शासन से मुक्ति का आह्वान किया, क्योंकि भारत पर ''आसुरी शासन'' के परिणामस्वरूप भौतिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक बन्धनों एवं मंत्रणाओं को अनैतिक एवं अमानवीय रूप से लागू किया गया। गाँधी ने स्पष्ट किया है कि संक्रमण की परिसीमित आवश्यकता से परे न तो राज्य और न ही राजनीति, न शक्ति और न ही प्रदत्त संस्थात्मक प्रक्रियात्मक उपलब्धियां आवश्यक हैं।

गाँधी ने स्वीकारा कि जैसे राज्य, वैसे ही राजनीतिक शक्ति अभिष्ट एवं प्रयोजन नहीं है, क्योंकि गाँधी ने समसामयिक राजनीतिक जीवन में भागीदारी तथा नेतृत्व–भूमिकाओं का निर्वहन करने के बावजूद दोनों को नकारा। राजनीतिक शक्ति एवं राज्य–प्रदत्त अवसरों को केवल संक्रमणकालीन दायित्वपूर्ति हेतु, राष्ट्रीय प्रतिनिधियों द्वारा राष्ट्रीय जीवन एवं कल्याण–योजनाओं की सतत क्रियान्विति हेतु संक्रमणकालीन साधन माना। गाँधी ने स्पष्ट किया कि लोकजीवन के स्तर–विकास–क्रम में स्वतः स्वानुशासन एवं स्व–संचालन क्षमता–वृद्धि होने पर औपचारिक प्रतिनिधियों की आवश्यकता भी नहीं रहेगी। गाँधी–चिन्तन में यह व्यवस्था ''जाग्रत अराजकता'' है जिसे अनेक बार दार्शनिक अराजकता माना गया। ऐसी व्यवस्था में राज्य का शनैः शनैः अस्तित्व–नाश स्वाभाविक है एवं जनसमाज ही अन्ततः प्राधिकारी है। स्पष्ट है कि इस प्रकार राजनीति, राज्यशक्ति, सम्प्रभुता एवं सम्बद्ध अवधारणाओं, संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं का नव–निर्वचन कर गाँधी ने राजनीति एवं राष्ट्रवाद को भी गुणात्मक एवं मानवीय मूल्यों से समेकित किया।

गाँधी ने हिन्द स्वराज में स्पष्ट रूप से व्यक्त किया कि राजनीतिक शक्ति एवं अन्याय तथा शोधन से उत्पन्न समृद्धि तथा सम्पन्नता न केवल अपराध है, बल्कि अनैतिक शासन–व्यवस्था का अनिवार्य परिणाम भी है। हिन्द स्वराज एकांकी स्तर पर पश्चिमी सभ्यता, अविवेकी औद्योगिकीकरण, उपभोक्ता–संस्कृति एवं अनाधिकृत सुविधा भोग प्रवृत्ति की समालोचना मात्र नहीं है, बल्कि विमानवीकरण की घातक अनिवार्यताओं के विषय में शाश्वत चेतावनी भी है। यदि एक ओर गाँधी ने अपने विकल्पों को हिन्द स्वराज में स्थापित किया तो दूसरी ओर राष्ट्रवाद की उपलब्धि हेतु मानवीय वैश्विकता को सर्वोपरि माना।

परिणामस्वरूप गाँधी ने जिन मूल्यों को लोकशक्ति, लोक–स्वराज्य एवं सम–सामाजिक संरचना हेतु अनिवार्य माना, वे सदाशय, सहकार, वर्ग–समन्वय एवं परिपूरकता, शांति, अहिंसा एवं मानवीय मानकों से अनुप्राणित थे। ब्रिटिश साम्राज्यवाद को एकाकी रूप से दोशी मानकर गाँधी ने स्पष्ट किया कि भारत की स्वतन्त्रता एवं स्वायत्तता

का अपक्षय एवं नाश इस कारण नहीं हुआ कि साम्राज्यवादियों ने भारतवर्ष पर विजय प्राप्त की, बल्कि इस कारण सम्भव हुआ कि भारतवासियों ने विदेशी आरोपण को सहर्ष स्वीकारा एवं विचार, संस्था तथा प्रक्रिया के अनेक अनावश्यक एवं कलुषित घटकों को सहज रूप से स्थापित करने में सहयोग प्रदान किया। इस विरोधाभासी स्थिति का दायित्व भारतवासियों पर था, न कि ब्रिटिश साम्राज्यवादियों पर, क्योंकि विदेशी से किसी अन्य तन्त्र–प्रक्रिया की अपेक्षा करना अदूरदर्शिता मात्र था। एक बार प्रतिलिपिवादी स्थापना की स्वीकृति के पश्चात् भारतवासियों की ओर से किसी प्रकार का सशक्त प्रतिवाद नहीं हुआ एवं न ही आरोपित व्यवस्था के निराकरण हेतु कोई राष्ट्रीय आन्दोलन उद्यत किया गया। इसी सन्दर्भ में गाँधी ने रेलमार्ग प्रसार, साम्प्रदायिकता, न्याय विरोधी कानून–व्यवस्था, पश्चिम–पथ्योपचार प्रणाली, नौकरशाही की अहम् एवं आर्थिक दुर्गति के विशय में सशक्त समालोचना प्रस्तुत की। गाँधी ने मूलतः इस सत्य को उजागर किया कि पश्चिमी व्यवस्था संयत्र की प्राणदायिनी ''राजनीति'' को अपनाकर भारत में लोकनीति एवं लोकशक्ति को असहाय बना दिया गया। फलतः राज्य एवं व्यक्ति की नैतिक स्वतन्त्रता तथा सत्व का नाश होना स्वाभाविक हो गया।

राजनीति एवं राज्य–सम्बद्ध अवधारणा एवं व्यावहारिक सार्वभौमिकता का स्वाभाविक प्रवाह बलप्रवर्तन, शोषण, अर्जन–प्रवृत्ति, केन्द्रीय एवं स्वार्थपरायण आयामों में होना स्वाभाविक था एवं प्रतिनिधि तन्त्र के मिश्रण का प्रबल प्रभाव यह हुआ कि जनाधारित व्यवस्था के स्थान पर एकाधिकारी तथा सर्वशक्तिमान राज्यशक्ति में निरन्तर बढ़ोतरी हुई। इन आधारों से प्रेरित व्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि स्वचालित, स्वावलम्बी एवं स्वाभिमानी प्राथमिकताओं का विनाश हुआ एवं कृत्रिम एवं आरोपित मिथकों को सर्वोपरि उपादेयता प्रदान की गई। प्रस्तुत वातावरण में ''धर्म'' का नाश होना स्वाभाविक था एवं दूरगामी घातक स्थिति यह हुई कि भारतवासी अपनी मूल अस्मिता से भी –विलग्न हो गये।

राज्य को शक्ति का पर्याय मानकर गाँधी ने स्पष्ट किया कि शक्ति को 'साध्य' मानने पर असीमित एवं अनवरत कलुशित एवं हिंसक परिणामों में अभिवृद्धि होना स्वाभाविक है, जबकि यदि शक्ति नैतिक स्तर पर 'साधन' बनी रहे तो लोकशक्ति एवं लोक–कल्याण की स्थापना सुनिश्चित है। गाँधी ने इस दावे को अस्वीकारा कि असीमित शक्ति की उपलब्धि एवं परिणति में ही लोक–कल्याण सम्भव है। गाँधी ने स्पष्ट किया कि सभ्य समाज की प्रामाणिकता इसी वास्तविकता में निहित है कि शक्ति का रूपान्तरण किस प्रकार लोकशक्ति में किया जाता है एवं ''मानवीय साधन'' के स्तर पर शक्ति एवं विमानवीकरण के अन्तर का लोक–समर्थन किस प्रकार प्राप्त होता है, क्योंकि नैतिकता, न्याय एवं मानवता के अभाव में शक्ति केवल आक्रान्ता का शस्त्र मात्र है।

गाँधी ने राज्य, राजनीति एवं शक्ति के रूपान्तरण हेतु स्पष्ट किया कि इस प्रक्रिया को केवल क्रमिक एवं विकासशील उन्नयन द्वारा ही प्राप्त करना सम्भव है। यदि एक और मार्क्स ने वर्ग–राज्य के सन्दर्भ में वर्ग–संघर्ष द्वारा वर्ग की समाप्ति के साथ–साथ राज्य को ''सूखे हुए फूल'' की भांति स्वयमेव अस्तित्व–समापन का निर्वचन किया, तो दूसरी ओर गाँधी ने राज्यशक्ति के स्थान पर लोकशक्ति एवं सत्ता के समग्र विकेन्द्रीकरण को ''सामुदायिक तरण'' सिद्धान्त में परिलक्षित किया। स्वतन्त्रता एवं क्षमता की असीमितता को इंगित कर गाँधी ने प्रथम चरण पर प्रतिनिधि–तंत्रात्मक लोकतंत्र की स्थापना का समर्थन किया, जिसे ''रामराज्य'' शुभ लोकतंत्र माना गया। पश्चिमी लोकतंत्र के प्रतिलिपिवादी प्रलोभन से मुक्त गाँधी ने जिस व्यवस्था का समर्थन किया उसकी पृष्ठभूमि में गाँधी का वह मूल्य परिलक्षित है, जो राजनीति का रूपान्तरण व्यावहारिक मूल्यों से संयुक्त स्थिति का द्योतक है। सत्य, सत्याग्रह, ग्रामोन्न्यन, नई तालीम, अस्पृश्यता निराकरण, साम्प्रदायिक सद्भाव, कृषक श्रमिक न्याय, मानवीय एवं सभ्य अन्तक्रिया की निर्णायकता एवं शोशण–मुक्त अर्न्तसम्बद्धता एवं प्रक्रिया को अपरिवर्तनीय एवं दायित्व संकल्प से संलग्न कर गाँधी ने लोक–पक्षीय भागीदारी की प्राथमिकता को प्रस्तुत किया। तथाकथित ''लोक–कल्याणकारी राज्य'' के स्थान पर गाँधी ने ''लोक–कल्याणकारी समाज'' की प्राथमिकता को स्वीकारा। इस समग्र योजना में गाँधी का निर्णायक प्रयोजन, व्यक्ति की गरिमा एवं समग्र महत्त्व से अनुप्राणित था।

निष्कर्ष

गाँधी के स्वयं के मत में, उन्होंने किसी असम्भव कार्य को प्रस्तुत नहीं किया जबकि उन्होंने स्वीकारा कि आदर्श के अभाव में जीवन का प्रयोजन संदिग्ध हो जायेगा। गाँधी ने यह भी माना कि आदर्श इंगितीकरण एक दिशा निर्देशन है, न कि प्रयोजन की अन्तिम स्थिति। राज्यविहीन व्यवस्था मूलतः सृजनात्मक प्रक्रिया की द्योतक है, न कि तत्काल उपलब्धि की प्रामाणिकता। इसी कारण सर्वोदय समाज के आदर्श के बावजूद गाँधी ने स्वीकारा कि किसी न किसी प्रकार की व्यवस्था एवं शासन की उपस्थिति होना आवश्यक एवं उपयोगी दोनों है। राज्य के कार्यक्षेत्र को व्यावहारिक स्तर पर न्यूनतम बनाने की स्थिति में ही सर्वोदयी समाज की स्थापना सम्भव है। गाँधी ने माना कि मानव की प्रकृतिजन्य चारित्रिक स्थिति को नकारने से किसी प्रकार के विकल्पों का निर्धारण नहीं किया जा सकता। गाँधी की दृष्टि में इस वास्तविकता की सिद्धि हेतु सभी प्रयोजन ''धर्म'' के एक सशक्त आयाम को इंगित करते हैं, जो वैयक्तिक एवं सामाजिक नैतिकता के पर्याय हैं।

प्रतीकात्मक रूप से वे अहिंसा पर आधारित साम्यवाद के समर्थक थे। राज्य, राजनीति एवं शक्ति के प्रत्येक प्रकरण में व्याप्त हिंसा को अमानुशिक एवं अनावश्यक मानकर गाँधी ने स्पष्ट किया कि केवल अहिंसा की वास्तविकता द्वारा ही लोकशक्ति पर आधारित व्यवस्था की स्थापना सम्भव है।इस सन्दर्भ में स्मरणीय है कि राज्य–अन्तर्निहित हिंसा एवं वैयक्तिक हिंसा, दोनों को अस्वीकार करते हुए, गाँधी ने अनुशासन विहीन एवं अहिंसा विहिन समाज की परिकल्पना की जो भारतीय राष्ट्रवाद का पोशक एवं संवर्धक है।

संदर्भ सूची

1. गांधी, महात्मा (1991) *आत्मकथा,* आवृत्ति, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद–14, पृ. 51–53।
2. गांधी, महात्मा (1956) *सच्ची शिक्षा,* आवृत्ति, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद–14, पृ. 85–86।
3. गांधी, महात्मा (1956) *शिक्षा की समस्या,* आवृत्ति, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद–14, पृ. 123–124।
4. गांधी, महात्मा (1962) *बुनियादी शिक्षा,* आवृत्ति, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद–14, पृ. 143–144।
5. गांधी, महात्मा (1959) *नई तालीम की ओर,* आवृत्ति, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद–14, पृ. 136–38।
6. सिंह, बलवंत (1959) *बापू की छाया में,* आवृत्ति, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद–14, पृ. 25–28।
7. गांधी, महात्मा (1973) *हिन्दस्वराज,* आवृत्ति, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद–14, पृ. 118–119।
8 (1980) सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय ग्रंथ, प्रथम आवृत्ति, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

––==00==––